International Journal of Research in Social Sciences And Humanities http://www.ijrssh.com/

(IJRSSH) 2011, Vol. No. 1, Issue No. I, July-Sept **ISSN: 2249-4642**

श्रीमद्भागवत का तत्त्व–चिन्तन

डॉ नीरज कुमारी

सह . आचार्य, संस्कृत विभाग, ठाकुर बीरी सिंह महाविद्यालय, टूंडला, फिरोजाबाद, भारत

PHILOSOPHY OF SHRIMAD BHAGWAT

Dr. Neeraj Kumari

Associate Professor, Sanskrit Department

Thakur Biri Singh Degree College Tundla, Firozabad, India

ABSTRACT

In Shrimad Bhagwat, these ten elements of Mahapurana's Sarg, Visarga, Sthana, Poshan, Uti, Manvantar, Shnukatha, Nirodh, Mukti and Ashray have been rendered completely.

परिचय

श्रीमद्भागवत में महापुराण के सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय इन दस तत्त्वों का पूर्णतः प्रतिपादन किया गया ळें

सर्ग– *सर्ग का अर्थ है सृष्टि। सृष्टि के प्रारम्भ और उद्भव के विषय में दार्शनिकों में मतभेद पाया जाता है। भारतीय दर्शन में सृष्टिक्रम के सम्बन्ध में तीन वाद प्रचलित हैं–आरम्भवाद, परिणामवाद और विवर्तवाद। न्याय और वैशेषिक दर्शनों का अभिमत है कि सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा निमित्त रूप से विकीर्ण परमाणुओं को संयुक्त करता है, फलतः नाना प्रकार की सृष्टि होती है। परमाणुओं का संयोग होना ही सृष्टि का आरम्भ है। इसी से इस मत को आरम्भवाद कहते हैं। (4)*

सांख्य दर्शन त्रिगुणात्मिका प्रकृति को सृष्टि का कारण मानता है, परमाणु को नहीं। त्रिगुण के परिणाम से ही सृष्टि होती है। इसी कारण यह मत परिणामवाद कहलाता है। (5)

तीसरा सिद्धान्त विवर्तवाद है। इसके समर्थक शंकराचार्य हैं। शंकर ब्रह्म से पृथक् परिमाणु, प्रकृति और उसके परिणाम आदि किसी की सत्ता स्वीकार नहीं करते। परिणाम सत्य वस्तु में होने वाले वास्तविक परिवर्त्तन को कहते हैं और विवर्त अवास्तविक होने पर भी भ्रमवश दिखलायी पड़नेवाला परिवर्त्तन है। (6) यह विवर्त

IJRSSH

ही माया या भ्रम है। श्रीमद्भागवत में सृष्टितत्त्व का निरूपण अनेक प्रकार से किया गया है। सर्ग का लक्षण बतलाते हुए लिखा है–

ईश्वर की प्रेरणा से गुणों में क्षोभ होकर रूपान्तर होने से जो आकाशादि पंचभूत, शब्दादि तन्मात्राओं, इन्द्रियों, अहंकार और महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है इसी का नाम सर्ग है। (7) जब मूल प्रकृति के तीनों गुण क्षुब्ध होते हैं तब महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है। महत्तत्त्व से तामस, राजस और सात्त्विक तीन प्रकार के अहंकार बनते हैं। विविध अहंकार से ही पंच तन्मात्राओं, इन्द्रियों और विषयों की उत्पत्ति होती है। इस उत्पत्तिक्रम का ही नाम सर्ग है। वैकारिक आदि भेद से तीन प्रकार का अहंकार देह, इन्द्रिय और मन में स्थित अपने प्रतिबिम्बों से लक्षित होता है। (8)

विसर्ग *विसर्ग का अर्थ है विशिष्ट सृष्टि। यह विशिष्ट सृष्टि ब्रह्मा का पौरुष है। 9 विराट् के अण्ड में ब्रह्मा द्वारा जो विविध सृष्टि होती है, उसे विसर्ग कहते हैं। ब्रह्मा की सृष्टि मानसी सृष्टि है, बैजी नहीं। जीवों की वासना के अनुसार एक बीज से दूसरे बीज के होने–चराचर सृष्टि की उत्पत्ति होने को विसर्ग कहा गया है। (10) यह विसर्ग भगवान् की अनन्त लाला–शक्ति और ज्ञान का ज्ञापक है। सृष्टि की प्रत्येक विचित्रता और विविधता भगवान् के अनन्त सौन्दर्य और कौशल का बोध कराती है। श्रीमद्भागवत में वर्णित विसर्ग के स्वरूप का अवलोकन करने से प्रतीत होता है कि भगवान् की इन अचिन्त्य लीलाओं का चित्रण काव्यात्मक है। कई सन्दर्भ व्यंग्यार्थ से भी परिपूर्ण हैं।*

स्थान *श्रीमद्भागवत में स्थान को स्थिति (11) कहा गया है। सृष्टि और विशिष्ट सृष्टि के वर्णन के अनन्तर यह स्वाभाविक है कि उसकी वास्तविक स्थिति बतलायी जाये। किन विशेष मर्यादाओं के पालन करने से सृष्टि स्थित है? लोकों की संख्या और विस्तार कितना है? उनका धारक और नियामक कौन है? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर यही दिया जा सकता है कि अद्भुत शक्ति के धारक भगवान् ही समस्त लोकों के आधारभूत हैं। श्रीमद्भागवत के अनुसार भगवान् की सर्वातिशायिनी विजय ही स्थिति अथवा स्थान है। प्रत्येक देशकाल के कर्त्तव्याकर्त्तव्य, सुकर्म एवं कुकर्म के नियन्ता और शिष्टानुग्राहक भगवान् की महिमा अत्यन्त व्यापक और अनन्त है। श्रीमद्भागवत में भगवान् की इस महिमा का जीवन्त और रसात्मक चित्रण पाया जाता है।*

पोषण *भगवान् शिष्टानुग्राहक और दुष्ट–निग्राहक तो हैं ही, पर उनका पोषण प्राप्त करना प्रत्येक जीवात्मा के लिए आवश्यक है। श्रीमद्भागवत के षष्ठ स्कन्ध में पोषण का विस्तारपूर्वक वर्णन आया है। भगवान् के अनुग्रह को पोषण कहा गया है। (12) षष्ठ स्कन्ध में देव, मानव और मनुष्यों पर भगवान् के अहैतुक अनुग्रह और अकारण करुणा का सजीव चित्रण आया है। अजामिल, वृत्रासुर एवं इन्द्र इत्यादि को भगवान् का सहज अनुग्रह प्राप्त हुआ है। (13)*

ऊति *ऊति का अर्थ है कर्मवासना। (14) अपनी कर्मवासना के कारण ही जीव कर्मबन्धन में बँधा हुआ है और इस के कारण ही जीव भगवान् को भूल जाता है। जब तक यह वासना से रहित नहीं होता, तब तक आनन्द के अधिष्ठान परमात्मा*

की उपलब्धि नहीं हो सकती। वासना दो प्रकार की है शुभ और अशुभ। महापुरुषों के प्रति प्रेम होने के फलस्वरूप उनके अनुग्रह से शुभ वासना और उनसे विद्वेष करने से अशुभ वासना होती है। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण कहते हैं कि निष्काम भाव से किये हुए स्वधर्म पालन द्वारा अन्तः करण शुद्व होने से बहुत समय तक भवत्कथा–श्रवणद्वारा पुष्ट हुई मेरी तीब्र भक्ति से, तत्वसाक्षात्कार कराने वाले ज्ञान से, प्रबल वैराग्य से, व्रतनियमादि के सहित किये हुए ध्यानाभ्यास से और चित्त की प्रगाढ़ एकाग्रता से पुरूष की प्रकृति दिन–रात क्षीण होती हुई धीरे–धीरे लीन हो जाती है। (15) विष्णु–पार्षद जय एवं विजय का सनकादि के प्रति द्वेष के कारण अशुभ वासना प्राप्त करना और गर्भस्थ प्रह्लाद का नारद के अनुग्रह से शुभ वासना प्राप्त करना स्पष्ट है। वासनाओं के चक्कर में पड़ा हुआ मनुष्य विभिन्न योनियों में परिभ्रमण करता है। सदाचार और सद्गुणों से जीवन का निर्माण कर भगवदनुग्रह द्वारा कर्मवासनाओं का प्रक्षालन होता है। आसक्ति और वासनाओं के त्याग से ही सच्ची मुक्ति प्राप्त होती है। श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध में ऊति का सुन्दर वर्णन आया है। हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद के उपाख्यानों से भी ऊति पर प्रकाश पड़ता है। भागवतकार ने हिरण्यकशिपु के वध के अवसर पर भगवान् की क्रोधाभिभूत भयंकर अवस्था का एक चित्र प्रस्तुत किया है। (16)

मन्वन्तर *मन्वन्तरों के अधिपति जिस भगवद्भक्ति और प्रजापालन रूप शुद्ध धर्म का अनुष्ठान करते हैं, उसे मन्वन्तर कहते हैं, (17) किन्तु मन्वन्तर वास्तव में एक काल–परिमाण है। 'सूर्यसिद्धान्त' में बताया गया है कि इकहत्तर चतुर्युगियों का एक मन्वन्तर हाता है और चौदह मन्वन्तरों का एक कल्प। 18 आशय यह है कि एक मन्वन्तर में एक मनु मनुष्यों से सद्धर्म का पालन कराता है। उसके बाद दूसरा मनु आता है। एक मनु से दूसरे मनु के आगमन का समयान्तर मन्वन्तर कहा जाता है। जब चौदह मन्वन्तर हो जाते हैं तब एक कल्प होता है, जो ब्रह्मा का एक दिन है। ब्रह्मा की रात्रि भी इतनी ही बड़ी होती है। इस हिसाब से ब्रह्मा सौ वर्ष–पर्यन्त जीवित रहते हैं। ब्रह्मा की पूरी आयु द्विपरार्ध कहलाती है, जो भगवान् के एक निमेष के बराबर है। (19)*

मानव वर्षों के हिसाब से एक चतुर्युगी का प्रमाण 4320000 वर्ष है। (20) उसी अनुसार 71 चतुर्युगियों का मन्वन्तर कहा गया है। वर्तमान में सातवें वैवस्वत मनु हैं। अष्टम स्कन्ध में इन मन्वन्तरों का विस्तार से वर्णन आया है।

ईशानुकथा *भगवान् के विभिन्न अवतारों और उनके भक्तों के विविध आख्यान ईशानुकथा के नाम से प्रसिद्ध हैं। (21) भगवदवतारों, भगवल्लीलाओं और भगवद्भक्तों के पुण्य चरित का वर्णन श्रीमद्भागवत में विशेष रूप से आया है। अवतारों के अनेक भेद हैं– पूर्णावतार, अंशावतार, गुणावतार, व्यूहावतार, अर्चावतार, आवेशावतार और स्फूर्त्यवतार। श्रीकृष्ण स्वयं अवतारी पुरुष हैं। (22) भावगत के प्रथम स्कन्ध में कुन्तीकृत स्तुति में भगवान् के अवतारों के अनेक कारण बतलाये गये हैं। अवतारों के महत्त्व का श्रवण, मनन और चिन्तन करने से अन्तःकरण शुद्ध*

होता है और हृदय भगवन्मय हो जाता है। भागवत के नवम स्कन्ध में भगवान् और उनके भक्तों की कथाएँ विशेष रूप से प्रतिपादित की गयी हैं।

निरोध *जब भगवान् योगनिद्रा में शयन करने लगते हैं तब जीव अपनी समस्त उपाधियों सहित उनमें लीन हो जाता है। विलयन की इसी क्रिया का नाम निरोध है। (23) परमात्मा के अतिरिक्त जितने स्थावर और जंगम प्राणी हैं उनकी अन्तिम गति प्रलय है। अवतार लेकर भगवान् प्राणियों की विपरीत गति का निरोध करते रहते हैं, पर जब सृष्टि में तमोगुण अधिक बढ़ जाता है, तब भगवान् नवीन रूप से सात्त्विक सृष्टि करने के लिए जगत् का प्रलय करते हैं। भागवत में प्रलय का विस्तारपूर्वक वर्णन आया है। (24) प्रलय चार प्रकार का होता है–नित्य प्रलय, नैमित्तिक प्रलय, प्राकृत–प्रलय और आत्यन्तिक–प्रलय।*

प्रतिदिन हम अपने नेत्रों के समक्ष सृष्टि का क्षय होते हुए देखते हैं, यह नित्य प्रलय है। नैमित्तिक प्रलय दो प्रकार का होता है– आंशिक और पूर्ण। एक मन्वन्तर के बीच जब समस्त भूलोक और स्वर्लोक विच्छिन्न हो जाते हैं, पर महर्लोक ज्यों का त्यों बना रह जाता है, तब आंशिक प्रलय कहलाता है। जब एक कल्प के अन्त में भगवान् अपनी सृष्टि को लेकर घोर निद्रा में शयन करते है। तो पूर्ण नैमित्तिक प्रलय होता है। प्राकृत प्रलय में ब्रह्मा की आयु पूर्ण हो जाती है और यह ब्रह्माण्ड सर्वथा प्रकृति में विलीन हो जाता है। आत्यन्तिक प्रलय वह स्थिति है, जिसमें जीव विवेक द्वारा माया और अहंकार के बन्धन को छिन्न कर आत्मस्वरूप की उपलब्धि करता है। आत्मा की यह माया–मुक्ति ही आत्यन्तिक प्रलय है।

मुक्ति *अज्ञानकल्पित कर्तृत्व–भोक्तृत्व आदि अनात्म भाव का परित्याग कर अपने वास्तविक स्वरूप में स्थिर होना ही मुक्ति है। (25) इसे हम कैवल्यमुक्ति कह सकते हैं। श्रीमद्भागवत के अनुसार भगवत्प्राप्ति ही मुक्ति है। यह भगवत्प्राप्ति दो प्रकार से सम्भव है– ब्रह्मतत्त्वज्ञान से और भगवत्प्रेम से। प्रकृति में प्रलय और महाप्रलय तो होते हैं पर आत्यन्तिक–प्रलय नहीं होता। पर जब जीव पर भगवान् का अनुग्रह होता है और वह भगवत्स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है, तब उसके लिए सृष्टि का आत्यन्तिक प्रलय हो जाता है। यह आत्यन्तिक प्रलय ही मुक्ति है। यह मुक्ति जीव को कभी भी प्राप्त हो सकती है। इसके लिए देशकाल आदि का कोई बन्धन नहीं है। श्रीमद्भागवत में मुक्ति का जो स्वरूप वर्णित है वह वेदान्त दर्शन–सम्मत कैवल्यमुक्ति में पूर्णतया घटित होता है। श्रीमद्भागवत में कैवल्यमुक्ति के अतिरिक्त अन्य पाँच (26) प्रकार की मुक्तियों का वर्णन आया है। सालोक्यमुक्ति, सार्ष्टिमुक्ति, उनका सतत सामीप्य प्राप्त कर लेना सामीप्यमुक्ति, उनके समान रूप प्राप्त कर लेना सारूप्यमुक्ति और उनमें लीन हो जाना सायुज्यमुक्ति है। इन पाँचों प्रकार की मुक्तियों के उदाहरण श्रीमद्भागवत में निबद्ध किये गये हैं। शिशुपाल मृत्युपरान्त वासुदेव श्रीकृष्ण में समाविष्ट हो गया, जिससे उसे सायुज्यमुक्ति प्राप्त हुई। (27)*

श्रीमद्भागवत में वेदान्त, न्याय, वैशेषिक एवं योग आदि दर्शनों में प्रतिपाद्य मुक्ति के सिद्धान्तों का समावेश और सामंजस्य पाया जाता है। यह सत्य है कि भगवान् का सच्चा भक्त उक्त पाँचों प्रकार की मुक्तियों में से किसी की भी कामना नहीं

करता। उसके लिए भक्ति ही अमृत है। वह भगवान् के प्रति अनन्य अनुरक्ति और तज्जन्य उनकी चरणसेवा को ही सर्वाधिक महत्त्व देता है। उसके लिए भगवद्भक्ति मुक्ति से भी श्रेष्ठ और स्पृहणीय है। (28)

श्रीमद्भागवत में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि चित्त को बारंबार एकाग्र करते हुए मुझमें सच्चा भाव रखने, मेरी कथा श्रवण करने, समस्त प्राणियों में समभाव रखने, किसी से बैर न करने, आसक्ति के त्याग, ब्रह्मचर्य, मौन–व्रत और बलिष्ठा (अर्थात भगवान् को समर्पित किये हुए) स्वधर्म से जिसे ऐसी स्थिति प्राप्त हो गयी है कि– प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ मिल जाता है उसी में सन्तुष्ट रहता है, परिमित भोजन करता है, सदा एकान्त में रहता है, शान्त–स्वभाव है, सबका मित्र है, दयालु और धैर्यवान् है, प्रकृति और पुरूष के वास्तविक स्वरूप के अनुभव से प्राप्त हुए तत्त्वज्ञान के कारण स्त्री–पुत्रादि सम्बन्धियों सहित इस देह में मैं–मेरेपन का मिथ्या अभिनिवेश नहीं करता, बुद्धि की जाग्रदादि अवस्थाओं से भी अलग हो गया है तथा परमात्मा के सिवा और कोई वस्तु नहीं देखता– वह आत्मदर्शी मुनि नेत्रों से सूर्य को देखने की भाँति अपने शुद्ध अन्तःकरण द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार कर उस अद्वितीय ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है, जो देहादि सम्पूर्ण उपाधियों से पृथक्, अहंकारादि मिथ्या वस्तुओं में सत्यरूप से भासने वाला, जगत्कारणभूता प्रकृति का अधिष्ठान, महदादि कार्यवर्ग का प्रकाशक और कार्य–कारणरूप सम्पूर्ण पदार्थों में व्याप्त है। (29)

आश्रय *समस्त चराचर जगत् की उत्पत्ति और प्रलय दोनों जिस तत्त्व से प्रभावित होते हैं, वह परम ब्रह्म ही आश्रय है। शास्त्रों में उसी को परमात्मा कहा गया है। जो नेत्र आदि इन्द्रियों का अभिमानी द्रष्टा जीव है, वही इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता सूर्यादि के रूप में भी है और जो नेत्रगोलक आदि से युक्त दृश्य देह है वही उन दोनों को अलग–अलग करता है। इन तीनों में यदि एक का भी अभाव हो जाये तो दूसरे की उपलब्धि नहीं हो सकती। जो इन तीनों को जानता है, वह परमात्मा ही सबका अधिष्ठान और आश्रयतत्त्व है। (30) जैसे बादल वायु के आश्रय रहते हैं और धूसरपना घूल में होता है, परन्तु अल्प बुद्धि मनुष्य बादलों का आकाश में और धूसरपने का वायु में आरोप करते हैं– वैसे ही अविवेकी पुरुष सबके साक्षी आत्मा में स्थूल दृश्यरूप जगत का आरोप करते हैं। (31) इस स्थूल रूप से परे भगवान का एक सूक्ष्म अव्यक्त रूप है– जो न तो स्थूल की तरह आकारादि गुणों वाला है और न देखने, सुनने में ही आ सकता है, वही सूक्ष्म शरीर है। आत्मा का आरोप या प्रवेश होने से यही जीव कहलाता है और इसी का बार–बार जन्म होता है। (32)*

श्रीमद्भागवत में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिसे तत्वज्ञान हो गया है और जो निरन्तर मुझमें ही मन लगाये रहता है, उस आत्मारागी मुनि का प्रकृति कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती। (33) मेरा धैर्यवान् भक्त मेरी ही महती कृपा से तत्त्वज्ञान प्राप्त करके आत्मानुभव के द्वारा सारे संशायों से मुक्त हो जाता है और फिर लिदेहका नाश होने पर एकमात्र मेरे ही आश्रित अपने स्वरू भूत कैवल्य– संज्ञक मलमय पद्

को सहज में ही प्राप्त कर लेता है, जहाँ पहुँच ने पर योगी फिर लौटकर नहीं आता। (34)

तत्त्वज्ञानी लोग जानते हैं कि जिस समय वह बुद्धिरूपा परमेश्वर की माया निवृत्त हो जाती है, उस समय जीव परमानन्दमय हो जाता है और अपनी स्वरूप महिमा में प्रतिष्ठित होता है। (35) वास्तव में जिनके जन्म नहीं हैं और कर्म भी नहीं हैं, उन हृदयेश्वर भगवान के अप्राकृत जन्म और कर्मों का तत्त्वज्ञानी लोग इसी प्रकार वर्णन करते हैं, क्योंकि उनके जन्म और कर्म वेदों के अत्यन्त गोपनीय रहस्य हैं। (36)

श्रीमद्भागवत में नारायण को श्रीकृष्ण से निम्न कोटि का माना गया है। सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए भागवतकार लिखते हैं, ''जब विराट् पुरुष ब्रह्माण्ड को छोड़कर निकला, तब वह अपने रहने का स्थान ढूँढने लगा और स्थान की इच्छा से उस शुद्ध–संकल्प पुरुष ने अत्यन्त पवित्र जल की सृष्टि की। विराट् पुरुष (नर) से उत्पन्न होने के कारण जल का नाम 'नार' पड़ा और अपने उत्पन्न किये 'नार' में वह पुरुष एक सहस्त्र वर्ष पर्यन्त रहा, इसी कारण उसका नाम 'नारायण' हुआ। (37) श्रीमद्भागवत का प्रतिपाद्य विषय यही आश्रय तत्त्व है। अन्य 9 विषयों का वर्णन इसी की सिद्धि के लिए किया गया है। आश्रय शब्द का अर्थ जीवों के शरण लेने योग्य भगवान् अथवा ब्रह्म है। प्रत्येक स्कन्ध में इस आश्रय–तत्त्व का निरूपण किया गया है पर विशेषतः सगुण साकार–रूप आश्रय का दशम स्कन्ध में, निर्गुण निराकार आश्रय का द्वादश स्कन्ध में और ब्रह्म का द्वितीय स्कन्ध में वर्णन आया है। द्वितीय स्कन्ध के नवम अध्याय के जो चार श्लोक (38) प्रसिद्ध हैं उनमें ब्रह्म का अत्यन्त विशद रूप प्रतिपादित है। भागवत में ब्रह्म के विषय में तीन बातें प्रधान रूप से वर्णित हैं–अधिष्ठानता, साक्षिता और निरपेक्षिता।

उस पुरुष के आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक ये तीन रूप हैं। आध्यात्मिक पुरुष का अर्थ है, नेत्रादि ज्ञन्द्रियों का अभिमानी जीव, अधिदैविक पुरुष का अर्थ है, नेत्रादि इन्द्रियों का अधिष्ठातृ देव और आधिभौतिक पुरुष का अर्थ है, नेत्र–गोलक आदि वाला स्थूल शरीर। ये तीनों सापेक्ष हैं। इन तीनों के भाव और अभाव का दर्शक आत्मा इनका निरपेक्ष साक्षी है। जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में विश्व, तेजस् तथा प्राज्ञ के रूप में उनका अनुभव करने वाला एवं मूर्च्छादि अवस्था में उनके प्रभाव का अनुभव करने वाला और समाधि अवस्था में उनसे परे रहने वाला आत्मा ही आश्रय है। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण और ब्रह्म को एक माना गया है। (39)

तत्त्ववेत्ता ज्ञाता और ज्ञेय के भेद से रहित अखण्ड अद्वितीय सच्चिदानन्द रूप ज्ञान को ही तत्त्व कहते हैं। ब्रह्म, परमात्मा, नारायण, वासुदेव और कृष्ण ये सभी ब्रह्म के नामान्तर हैं। श्रीमद्भागवत का आश्रय तत्त्व श्रीकृष्ण ही है। इस प्रकार श्रीमद्भागवत में महापुराण के लिए आवश्यक सभी दश तत्त्व वर्णित हैं। यह ग्रन्थ पुराण होते हुए भी काव्यगुणों से मण्डित है।

मानव मूल्यों की सार्वभौम स्थिति

वस्तुतः श्रीमरागवत भक्तिशास्त्र है, जिसमें बताया गया है कि भक्ति ही भगवान् को सर्वाधिक प्रिय है और वही एकमात्र धर्म है। अवतार एवं अनवतार दोनों ही दशाओं में भगवान् जीवमात्र का उद्धार करने के लिए प्रयत्नशील रहते है। अवतारदशा में वे स्वेच्छा से एक विशिष्ट रूप धारण कर सबकों परिलक्षित होते है। कृष्णरूप की पूर्णावतारदशा में उन्होंने अपने सम्पर्क में आनेवाले सभी कोटि के प्राणियों का उद्धार किया है। अनवतारदशा में भगवान् का उद्धार हो जाता है। भक्ति का महत्व प्रदर्शित करने के लिए ही इस महान् ग्रन्थ की रचना हुई है। आनन्द, माधुर्य और प्रेम के एकमात्र निधान भगवान् श्रीकृष्ण है। वे हमे अक्षर और वास्तविक आनन्द प्रदान करते है। इस प्रकार श्रीमरागवत में भगवान् कृष्ण लीलामय रूप का सर्वोत्कृष्ट चित्रण किया गया है।

श्रीमरागवत में भगवान् श्रीकृष्ण ने चित्त शुद्ध करने एवं प्रसन्न होकर परमात्मा के मार्ग में प्रवृत्त होने का मार्ग बताया है। उन्होंने मनुष्य को यथाशक्ति शास्त्रविहित स्वर्ध का पालन करने, शास्त्राविरूद्ध आचरण का परित्याग करने, आत्मज्ञानियों के चरणों की पूजा करने (40) ,विषय–वासनाओं को बढ़ाने वाले कर्मो से दूर रहने, संसार–बन्धन से छुड़ाने वाले धर्मो का आचरण करने, पवित्र और परिमित भोजन तथा निरन्तर एकान्त और निर्भय स्थान में रहने का उपदेश दिया है। (41) साथ ही मन, वाणी और शरीर से किसी जीव को न सताना, सत्य बोलना, चोरी न करना, आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह न करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, धर्मपालन के लिये कष्ट सहना, बारह–भीतर से पवित्र रहना, शास्त्रों का अध्ययन करना, भगवान् की पूजा करना, वाणी का संयम करना, इन्द्रियों को मन के द्वारा विषयों से हटाकर अपने हृदय में ले जाना, निरन्तर भगवान् की लीलाओं का चिन्तन और चित्त को समाहित करना आदि आचरणों का पालन करने का उपदेश भी दिया है। (42)

अष्टांयोग की महिमा का बखान करते हुए कहा गया है कि जो योगी प्राणवायु को जीत लेता है, उसका मन बहुत शीघ्र शुद्ध हो जाता है। (43) धूममार्ग और अर्चिरादि मार्ग से जाने वालों की गतिका और भक्तियोग की उत्कृष्टता का वर्णन करते हुए श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि जो पुरूष घर में रहकर सकाम भाव से गृहस्थ के धर्मो का पालन करता है और उनके फलस्वरूप अर्थ एवं काम का उपभोग करके फिर उन्हीं का अनुष्ठान करता रहता है, वह तरह–तरह की कामनाओं से मोहित रहने के कारण भगवद्धर्म मार्ग से विमुख हो जाता है और यज्ञों द्वारा श्रद्धापूर्वक देवता तथा पितरों की ही आराधना करता रहता है। (44)।जो विवेकी पुरूष अपने धर्मो का अथ और भोग– विलास के लिये उपयोग नहीं करते, बल्कि भगवान् की प्रसन्नता के लिये ही उनका पालन करते हैं– वे अनासक्त, प्रशान्त, शुद्धचित, निवृत्तिधर्म परायण, ममतारहित और अहंकारशून्य पुरूष स्वधर्मपालन रूप सत्त्वगुण के द्वारा सर्वथा शुद्धचित हो जाते हैं। (45)

भारतीय समाज में अतिप्राचीन काल से नारी का अत्यधिक सम्मान रहा है, क्योंकि नारी को सृजनात्मक और सृश्टि की परिपालन करने वाली षक्ति माना जाता है। यही कारण था कि प्राचीन भारत में व्यक्ति, समाज और राश्ट्र के निर्माण में नारी की सबसे महत्वपूर्ण भूमिका थी। नारी के अपमान से ही श्रीसमृद्धि और मानवता विनाषकारी युद्ध होते रहे हैं। भारतीय नारी ने सदा अपने सतीत्व के बल पर अपने पति और पुत्र की रक्षा कर सामाजिक संस्थाओं को जीवित रखा है। 'काव्य यष को देने वाला, अर्थ का उत्पादक व्यवहार का ज्ञान करने वाला, कल्याण कारक, अनिश्ट नाषक, परमानन्द का दाता और सुयोग्य पत्नी के समान उपदेष देने वाला होता है। (46) भारतीय नारी ने ही मानव को संयमित–नियमित रखने में, पारिवारिक संरचना को सुखद बनाने में सबसे बड़ा योगदान दिया है। जिस परिवार, समाज और राश्ट्र में नारी का सम्मान नहीं वहाँ अराजकता, अव्यवस्था और स्वार्थ के कारण सर्वत्र भ्रश्टाचार से नैतिक पतन जिससे भयावही स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

सत्य, दया, तपस्या, शौच, तितिक्षा, उचित– अनुचित का विचार, मन का संयम, इन्द्रियों का संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, सन्तोष, समदर्शों महात्माओं की सेवा, धीरे–धीरे सांसारिक भोगों की चेष्टा से निवृति, मनुष्य के अभिमानवपूर्ण प्रयत्नों का फल उलटा ही होता है– ऐसा विचार, मौन, आत्मचिन्तन, प्राणियों को अन्न आदि का यथायोग्य विभाजन, उनमें और विशेष करके मनुष्यों में अपने आत्मा तथा इष्टदेव का भाव, संतो के परम आश्रय भगवान् श्रीकृष्ण के नाम–गुण लीला आदि का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, उनकी सेवा, पूजा और नमस्कार, उनके प्रति दास्य, सख्य और आत्म समर्पण–यह तीस प्रकार का आचरण सभी मनुष्यों का परम धर्म है। (47)

श्रीमदभागवत पुराण में भागवतधर्म का मानवतावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है। इस मलमय भागवतधर्म के श्रद्धापूर्वक आचरण करके मनुष्य संसाररूप दुर्जय मृत्यु को अनायास ही जीत लेता है। (48) जो साधक केवल ज्ञानदृष्टि का आश्रय लेकर सम्पूर्ण प्राणियों और पदार्थों में भगवत दर्शन करता है और उन्हें भगवान् का रूप मानकर सत्कार करता है तथा सभी में समानदृष्टि रखता है उसे ही सच्चा ज्ञानी समझना चाहिए। (49)

भागवतधर्म का मानवतावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि व्यक्ति को 'मैं अच्छा हूँ, वह बुरा है' ऐसी देहदृष्टि और लोक–लज्जा को छोड़ कर सभी के प्रति समरूप भाव रखते हुए उनका सम्मान करना चाहिए। (50) मनुष्यों को ज्ञान, कर्म, योग वाणिज्य और राजदण्डादि से क्रमशः मोक्ष, धर्म, काम और अर्थरूप फल प्राप्त होते हैं। (51) भगवान् के रूप, गुण, लीला, धाम और नाम के श्रवण, संकीतन, ध्यान, पूजन और आदर से वे मनुष्य के हृदय में आकर विराजमान हो जाते हैं। विद्या, तपस्या, प्राणायाम, समस्त प्राणियों के प्रति मित्रभाव, तीर्थस्नान, व्रत, दान और जप आदि किसी भी साधन से मनुष्य के अन्तःकरण की वैसी वास्तविकता शुद्धि नहीं होती, जैसी शुद्धि भगवान् पुरुषोत्तम के हृदय में विराजमान हो जाने पर होती है। (52)

सन्दर्भ

1. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चेति पुराणं पंचलक्षणम्।।

   एतदल्पपुराणानां लक्षणं कथयामि ते। दशाधिकं लक्षणं च महतां परिकीर्तितम्।।ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, कृष्णखण्ड, चरमाध्याय

2. तस्मा इदं भागवत पुराणं दशलक्षणम्। प्रोक्तं भगवता प्राह प्रीतः पुत्राय भूतकृत्।। श्रीमद्भागवत, 2.9.43 अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः।। श्रीमद्भागवत, 2.10.1

3. New Indian Antiquary, Vol. I. p. 522. Article by R.C. Hazra.

4. श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के 11वें अध्याय में परमाणु के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन आया है।

5. सांख्य कारिका, कारिकाएँ, 9,16 एवं 22

6. सत त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः। अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीरितः।।

   वस्तुतः स्वरूपापरित्यागेनवस्त्वन्तर मिथ्याप्रतीतिर्विवर्त। यथा रज्जावहेः शुक्तौ रजतस्य वा प्रतीतिः। वेदान्तसार–पृ0 59।

7. भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग उदाहृतः। अव्याकृत गुण क्षोभा न्महतस्त्रिवृत्तोऽहमः।

   भूतमात्रेन्द्रियार्थानां सम्भवः सर्ग उच्यते। श्रीमद्भागवत, 2.10.3 तथा 12.7.11

8. श्रीमद्भागवत, 3/27/12

9. विसर्गः पौरुषः स्मृतः। 2.10.3

10. पुरुषानुगृहीतानामेतेषां वासनामयः। विसर्गोऽयं समाहारो बीजाद् बीजं चराचरम्।। श्रीमद्भागवत, 12.7.12

11. स्थितिर्वैकुण्ठविजयः..... श्रीमद्भागवत, 2.10.4

12. पोषणं तदनुग्रहः– श्रीमद्भागवत, 2.10.4

13. हंसाय दहनिलयाय निरीक्षकाय कृष्णाय मृष्टयशसे निरुपक्रमाय। सत्संग्रहाय भवपान्थनिजाश्रमाप्तावन्ते परिष्टगतये हरये नमस्ते। श्रीमद्भागवत, 6.9.45

14. ऊतयः कर्मवासनाः..... श्रीमद्भागवत, 2.10.4

15. श्रीमद्भागवत, 3/27/21–23

16. संरम्भदुष्प्रेक्ष्यकरााललोचनो व्यत्ताननान्तं विलिहन्स्वजिह्वया। असृग्लवाक्तारुणकेसराननो यथान्त्रमाली द्विपहत्यया हरिः।।नखांकुरोत्पाटितहृत्सरोरुहं विसृज्य तस्यानुचरानुदायुधान्। अहन् समन्तान्नखशस्त्रपार्ष्णिभिर्दोर्दण्डयूथोऽनुपथान् सहस्त्रशः।। श्रीमद्भागवत, 7.8. 30–31

17. मन्वन्तराणि सद्धर्मः। श्रीमद्भागवत, 2.10.418.युगानां सप्ततिःसैकामन्वन्तरमिहोद्यते। युगानां महायुगानां सैका सप्ततिरिह वन्तरमुच्यते।सैकसप्ततिमहायुगेरन्यो मनुर्भवतीत्यर्थः। ससन्धयस्ते मनवः कल्पे ज्ञेयाश्चतुर्दश।। सूर्यसिद्धान्त, पृ0 13

19. कालोऽयं द्विपरार्धाख्यो निमेष उपचर्यते। अव्याकृतस्मानन्तस्य अनादेर्जगदात्मनः।। श्रीमद्भागवत, 3.11.37

IJRSSH

20. तद्द्वादशसहस्त्राणि चतुर्युगमुदाहृतम्। सूर्याब्दसंख्यया द्वित्रिसागरैरयुताहतैः।। श्रीमद्भागवत, 3.11.15

21. अवतारानुचरितं हरेश्चास्यानुवर्तिनाम्।

सतामीशकथाः प्रोक्ता नानाख्यानोपबृंहिताः। श्रीमद्भागवत, 23.5

22. एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। श्रीमद्भागवत, 1.3.28

23. निरोधोऽस्यानुशयमात्मनः सह शक्तिभिः। श्रीमद्भागवत, 2.10.6

24. श्रीमद्भागवत, 2.12.4

25. मुक्तिर्हित्वान्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।। श्रीमद्भागवत, 2.10.6

26. सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।। श्रीमद्भागवत, 3.29.13

27. श्रीमद्भागवत, 10.74.45

28. श्रीमद्भागवत, 10.53.41–42

29. श्रीमद्भागवत, 3/27/6–11

30. श्रीमद्भागवत, 2.10.7–9

31. श्रीमद्भागवत, 1/3/31

32. श्रीमद्भागवत, 1/3/32

33. श्रीमद्भागवत, 3/27/26

34. श्रीमद्भागवत, 3/27/28–31

35. श्रीमद्भागवत, 1/3/34

36. श्रीमद्भागवत, 1/3/35

37. पुरुषोऽण्डं विनिर्भिद्य यदासौ स विनिर्गतः। आत्मनोऽयनमन्विच्छत्रपोऽस्त्राक्षीच्छुचिः शुचीः।। तास्ववात्सीत् स्वसृष्टासु सहस्त्रपरिवत्सरान्। तेन नारायणो नाम यदापः पुरुषोद्भवाः।। श्रीमद्भागवत, 2.10–11

38. अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्। पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्।। ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि। तद्विद्यादात्मनो माया यथाऽऽभासो यथा तमः।। यथा महान्ति भूतानि भूतषूच्चावचेष्वनु। प्रविष्टान्यप्रविष्टानि यथा तेषु न तेष्वहम्।। एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽत्मनः।अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा।। श्रीमद्भागवत, 2.9.32–35

39. वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्। ब्रह्ममेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।। श्रीमद्भागवत, 1.2.11

40. श्रीमद्भागवत, 3/28/2

41. श्रीमद्भागवत, 3/28/3

42. श्रीमद्भागवत, 3/28/4–6

43. श्रीमद्भागवत, 3/28/10

44. श्रीमद्भागवत, 3/32/1–2

45. श्रीमद्भागवत, 3/32/4–6

46 काव्यं यासेऽर्थकृते व्यवहार विदे वेतरक्षतये। सद्य पर निवृतये कान्ता सम्मितयोपदेा युजे।। काव्य प्रका 1/2 मम्मटाचार्य

47. श्रीमद्भागवत, 7/11/9–12

48. श्रीमद्भागवत, 11/29/8

49. श्रीमद्भागवत, 11/29/13–14

50. श्रीमद्भागवत, 11/29/16

51. श्रीमद्भागवत, 11/29/33

52. श्रीमद्भागवत, 12/3/47–48

IJRSSH